

THE ECONOMIC TIMES

Date: 12-11-16

No first shooting off your mouth Manohar Parrikar



Defence minister Manohar Parrikar has damaged Prime Minister Narendra Modi's ongoing visit to Japan, the most pacifist nation on earth, and to India's effort to gain membership of the Nuclear Suppliers Group by thinking aloud on changing India's nuclear doctrine. The clarification that he was airing his personal opinion rather than the opinion of the government just will not do. He is not just any ordinary individual. He is the defence minister of the country. If India's defence minister talks about revising the country's nuclear doctrine, the world will not treat this as an uninformed hawk's mid-afternoon reverie. The world is likely to think that India is seriously considering revising its nuclear doctrine, abandoning the stated position of no first use.

In the wake of Islamabad's frequent sabre-rattling on use of its nuclear arsenal against India, there might or might not be a case for debating the merits of India tying its hands on the nuclear option by forswearing first use. That is a debate that the National Security Council can conduct and assorted think tanks can explore in detail.

The institutional propriety of the defence minister of the land talking casually about revising the country's nuclear doctrine is separate from the intrinsic merits of the doctrine governing the use of the country's nuclear arsenal. Work on developing and installing missile defence systems are a long-term project. Submarines capable of firing nuclear missiles from unpredictable locations are what provide an absolute second-strike capability. However, even landbased and airborne missile systems offer the capacity to deliver a devastating blow to whoever dares to use nuclear weapons against the country. India has the capacity to deter nuclear strikes in this fashion. What India does not have, apparently, is the ability to have a discipline discourse on a subject as strategically sensitive as the nation's nuclear doctrine. The principle of collective responsibility of the Union Cabinet and of the duty to conduct oneself in a responsible fashion should restrain our defence minister.


दैनिक भास्कर

Date: 12-11-16

कैशलेस समाज बनाने की ओर बड़ा कदम

पांच सौ और हजार के करेंसी नोटों को चलन से वापस लेने का फैसला बड़े बदलाव का हिस्सा

देश के सात दशकों के लोकतंत्र की कई कमजोर विरासतें हैं, उनमें काले धन की अर्थव्यवस्था भी है। यह हमारी राजनीतिक और सरकारी व्यवस्था में भयावह भ्रष्टाचार का कारण होने के साथ हमारे लोकतंत्र, अर्थव्यवस्था और देश के लिए खतरा है। इस काली अर्थव्यवस्था की

सफाई करने का मतलब राजनीति, चुनाव, सरकार व बिज़नेस की सफाई के साथ आतंकवाद में पैसा लगाने और फर्जी करेंसी नोटों की समस्याओं से निपटना भी है। सत्ता में आने के बाद बहुत जल्दी प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने संकेत दे दिया था कि वे सुनियोजित ढंग से काले धन की अर्थव्यवस्था को पुरस्कार व दंड की नीति से घटाने के लिए कदम उठाएंगे। इस दिशा में पिछले दो वर्षों में उनकी सरकार ऐसी कई योजनाएं लाई हैं। इसमें काले धन पर विशेष जांच दल (एसआईटी), जनधन व मुद्रा बैंकिंग और ई-भुगतान के लिए सीधे लाभ, प्रोत्साहन योजनाएं और काला धन जाहिर करने की योजना शामिल हैं। जैसा कि एक लोकप्रिय हैडलाइन में कहा गया, 'कैश इज नो लॉन्गर किंग' यानी नकदी अब सर्वप्रमुख नहीं है। वित्तमंत्री अरुण जेटली ने हमसे 2016 के बजट में भारतीय समाज को कैशलेस बनाने का वादा किया था, इसलिए 8 नवंबर को जब लोग यह जानने को उत्सुक थे कि अमेरिका का अगला राष्ट्रपति कौन होगा तो प्रधानमंत्री ने अपने प्रयासों का अगला चरण जाहिर कर 500 और हजार के मौजूदा करेंसी नोटों को चलन से बाहर करने की घोषणा कर दी। यह सबको मालूम है कि नकदी की ज्यादातर अर्थव्यवस्था इन्हीं नोटों के सहारे चलती है। वे इसे बहुत ही सुगमता से बिना किसी लीक के सर्जिकल स्ट्राइक के अंदाज में कर पाए, वह प्रशंसनीय है। इस तरह के कदम कभी आसान नहीं होते और अल्पावधि में कुछ उथल-पुथल भी अपेक्षित है। बाजार में नकद की उपलब्धता के मुद्दे पर ध्यान देते हुए भारतीय रिजर्व बैंक और सरकार ने कम मात्रा में नोटों के बदलने के लिए 31 दिसंबर तक की पर्याप्त अवधि दी है। नोटों को जनता तक पहुंचाना चुनौतीपूर्ण है और कुछ नागरिक नकदी की कमी के कारण परेशानी में फंस सकते हैं। यही वजह है कि प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में लोगों से अनुरोध किया कि वे सुधार के इस बड़े कदम की खातिर कुछ दिनों की असुविधा और परेशानी को बर्दाश्त करें। अपेक्षित राजनीतिक मर्यादाओं के परे होना ही भारत में सुधार का नियम है। अर्थव्यवस्था को न्यूनतम नकदी से चलाने की प्रक्रिया में नोट वापस लेना महत्वपूर्ण और आवश्यक कदम है। यह ध्यान में रखना होगा कि भारत में काली अर्थव्यवस्था कितनी गहराई तक पैठी हुई है। जून 2016 के एक अध्ययन का अनुमान है कि यह 30 लाख करोड़ रुपए से ऊपर की है। यह कई खरबों की हमारी जीडीपी का 20 फीसदी होता है, जो थाईलैंड व अर्जेंटीना जैसे छोटे देशों की अर्थव्यवस्थाओं से काफी बड़ी है। आयकर चोरी भी बड़े पैमाने पर है। रिजर्व बैंक का डेटा बताता है कि पिछले चार दशकों में भारतीयों ने सेवा व सामान के रूप में 17 खरब रुपए का निर्यात किया है, लेकिन उतनी मात्रा में विदेशी मुद्रा जमा नहीं की है। ऐसी समस्या से निपटने का कोई नफासत भरा या उथल-पुथल न मचाने वाला समाधान नहीं होता, जिसे दशकों तक फलने-फूलने दिया गया हो। इसी वजह से अर्थव्यवस्था में मौजूद अवैध या फर्जी नकदी को भौतिक रूप से चलन से बाहर करने की जरूरत पड़ी है। यही इस काम को करने का कारगर तरीका था। बेशक इस कदम से उन्हें बहुत चोट पहुंचेगी, जिन्होंने अवैध अर्थव्यवस्था में भारी निवेश किया है जैसे आतंकवाद में पैसा लगाने वाले, राजनीतिक दलाल, फर्जी नोट छापने वाले आदि। इस कदम का राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खास महत्व है, क्योंकि आतंकी हमलों और हवाला सौदा का गहरा रिश्ता रहा है। इस साल उड़ी आतंकी हमले के बाद खुफिया ब्यूरो के डायरेक्टर ने साफ कहा था कि इसमें आ रहे धन के प्रवाह को रोकना इसे खत्म करने की दिशा में सबसे बड़ा कदम है। खासतौर पर आतंकी गुटों द्वारा लाई जाने वाली फर्जी करेंसी को देखते हुए यह और भी मौजू है। वे राजनीतिक दल भी चपेट में आएंगे, जो लंबे समय से अवैध नकदी से चलते रहे हैं। इन दलों को नकद दान में बहुत बड़ी ाशि मिलती है, जो एसोसिएशन ऑफ डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स के मुताबिक कुल पार्टी फंड का 75 फीसदी होता है। इससे चुनाव और काले धन का रिश्ता खत्म होने की शुरुआत है। आरईआरए बिल के जरिये रियल एस्टेट बिज़नेस को बदलने पर मजबूर किया जा रहा है, अब इस पर नकदी के मॉडल से हटने का दबाव और बढ़ जाएगा। इसे अन्य व्यवसायों की तरह टिकाऊ बिज़नेस मॉडल अपनाना होगा। इससे छोटे बिज़नेस और व्यक्तियों को औपचारिक बैंकिंग क्षेत्र में जाने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। 31 दिसंबर तक जो भी नकदी जमा होगी, वह सब टैक्स के दायरे में आ जाएगा। बैंकों के कड़े केवाईसी नियमों के कारण भारी नकदी वाले लोगों के लिए नए खाते खोलकर काली कमाई को सफेद करना मुश्किल होगा। हालांकि, यह पहलू अभी पूरी तरह सुरक्षित नहीं है, जैसा आधार और इसके बाद जेडीम की खामियों ने दर्शाया है, लेकिन 500 और हजार रुपए के इन पुराने नोटों की कमाई को बैंकिंग सिस्टम से सफेद करने का कोई प्रयास सुरक्षा जांच से नहीं बच सकेगा। यह महत्वपूर्ण कदम है, क्योंकि यह काला धन उजागर करने के लिए दिए मौके की समाप्ति के बाद उठाया गया है। तब प्रधानमंत्री और सरकार ने यह साफ कर दिया था कि स्वैच्छा से काला धन उजागर करने का यह अंतिम अवसर है। इस तरह नोटों को चलन से बाहर करना काले धन के खिलाफ लड़ाई में पहला निर्णायक कदम है। यह हमारी अर्थव्यवस्था को रूपांतरित कर कारगर, पारदर्शी और स्वच्छ बनाने की

दिशा में भी महत्वपूर्ण कदम है। काला धन हमारी अर्थव्यवस्था के लिए हमेशा से शर्म का विषय रही है, क्योंकि यह सरकार, लोकतंत्र और देश के संस्थानों के पतन का कारण बनती है। यह लंबे समय से कॉर्पोरेट अनियमितताओं, भ्रष्टाचार और सरकार व नीति को पंगु बनाने का कारण रही है। नकदी को बदलने का यह कदम इस रूपांतरण की दिशा में मील का पत्थर है।

राजीव चंद्रशेखर राज्यसभा सांसद और पेंटियम माइक्रो प्रोसेसर बनाने वाली कोर टीम के टेक्नोलॉजिस्ट रहे हैं। (ये लेखक के अपने विचार हैं।)

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 12-11-16

एनडीटीवी-अर्णव मामले का सच नजरों से न हो जाए ओझल

आर्थिक दुश्चारियों से बेहाल और संपादकीय चुनौतियों से जूझ रहे भारतीय समाचार टेलीविजन उद्योग की पिछले हफ्ते की गतिविधियों ने दो सवालों को जन्म दिया है। पहला, क्या किसी सरकार को एक समाचार पत्र, समाचार चैनल, समाचार वेबसाइट, ऐप या रेडियो समाचार प्रसारण को प्रतिबंधित करने का अधिकार है? दूसरा, अर्णव गोस्वामी को क्या बहुत ज्यादा अहमियत देने की जरूरत है? पहला सवाल एनडीटीवी समूह के हिंदी समाचार चैनल एनडीटीवी इंडिया पर 24 घंटे का प्रसारण प्रतिबंध लगाने से पैदा हुआ। इस चैनल पर आरोप था कि उसने गत जनवरी में पठानकोट एयरबेस पर हुए आतंकी हमले की रिपोर्टिंग के दौरान संवेदनशील रक्षा सूचनाओं को उजागर कर दिया था। इसके जवाब में एनडीटीवी ने कहा था कि उसने कोई भी ऐसी सूचना नहीं दी थी जो उस आतंकी घटना की कवरेज कर रहे अन्य चैनलों और समाचार पत्रों की जानकारी से अलग थी। चैनल की तरफ से सोमवार को इस पाबंदी आदेश के खिलाफ उच्चतम न्यायालय में अपील की गई। उसी दिन इस मीडिया समूह के सह-संस्थापक और कार्यकारी सह-अध्यक्ष प्रणय रॉय ने सूचना एवं प्रसारण मंत्री एम वेंकैया नायडू से मिलकर इस आदेश की समीक्षा करने का अनुरोध किया। सरकार भी इसके लिए राजी हो गई और चैनल पर लगी पाबंदी फिलहाल टल गई है।

लेकिन इस प्रकरण ने एक संदेश तो दे ही दिया है। दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का संवैधानिक अधिकार होते हुए भी एक विशाल एवं स्वतंत्र प्रसारक और एक सम्मानित अर्थशास्त्री एवं चुनाव विश्लेषक को पाबंदी पर रोक के लिए सरकार के पास जाकर गिड़गिड़ाना पड़ा। सामान्य प्रक्रिया के तहत किसी भी चैनल के खिलाफ आने वाली शिकायत को समाचार प्रसारण मानक अधिकरण (एनबीएसए) के पास भेजा जाता है लेकिन इस मामले में सरकार ने खुद ही जज बनने का फैसला कर लिया। यह भी साफ नहीं है कि घटना के 10 महीने बाद इस चैनल पर रोक क्यों लगाने का फैसला लिया गया? संपादकों की संस्था एडिटर्स गिल्ड ऑफ इंडिया, एनबीएसए और अन्य मीडिया संगठनों ने सरकार के इस कदम की पुरजोर निंदा करते हुए इसकी तुलना 1975 के आपातकाल से भी की। आम तौर पर मीडिया जगत के अंदरूनी मसलों को लेकर निरपेक्षता दिखाने वाले इन संगठनों की यह एकजुटता काफी दुर्लभ है। चैनल पर लगी पाबंदी के पक्ष और विपक्ष में सोशल मीडिया पर भी खूब टिप्पणियां आ रही थीं जिससे पता चला कि लोगों के लिए यह मसला काफी अहमियत रखता है। हालांकि इसका संबंध इससे नहीं है कि एनडीटीवी ने क्या किया या क्या नहीं किया? अगर इस मीडिया समूह की तरफ से न्यायालय में दायर याचिका वापस नहीं ली जाती है तो न्यायालय तो उस पर आगे की सुनवाई करेगा। लोकतांत्रिक विश्व में कहीं पर भी सरकारों को मीडिया संगठनों को प्रतिबंधित करने का अधिकार नहीं मिला है। केंट यूनिवर्सिटी में सेंटर ऑफ जर्नलिज्म के संचालक टिम लकहूट कहते हैं, 'ब्रिटेन में किसी भी मंत्री को इस तरह का अधिकार नहीं दिया गया है। सरकार से पूरी तरह स्वतंत्र नियामकीय निकाय

ऑफकॉम ही मीडिया संगठनों के प्रसारण का लाइसेंस जारी करता है। एनडीटीवी इंडिया को जिस तरह से प्रतिबंधित किया गया, ब्रिटेन में उस तरह का फैसला संसदीय सहमति के बगैर नहीं लिया जा सकता है। किसी युद्ध या नागरिक आपातकाल की स्थिति में ही इस तरह की मंजूरी मांगी जाती है।'

लकहस्ट अपने दावे के समर्थन में एक पुराने वाक्य का जिक्र करते हैं। रूसी क्रांति के नौ साल बाद 1926 में ब्रिटेन में मजदूरों ने देश भर में हड़ताल कर दी थी। सरकार इस हड़ताल को देश में साम्यवादी नीतियों के प्रसार का नतीजा मानते हुए घबराहट में आ गई। तत्कालीन वित्त मंत्री विंस्टन चर्चिल ने आम करदाताओं के धन से फंडिंग किए जाने वाले बीबीसी के अधिग्रहण का प्रस्ताव रखा ताकि इसे सरकार के प्रोपेगेंडा विस्तार का माध्यम बनाया जा सके। लेकिन प्रधानमंत्री स्टैनली बाल्डविन ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। उनका यह तर्क था कि अगर कंजर्वेटिव पार्टी की सरकार ने ऐसा किया तो लेबर पार्टी भी सत्ता में आने पर यही तरीका अपनाएगी। बीबीसी का ब्रिटेन की लगभग हरेक सरकार से असहज रिश्ता रहते हुए भी आज की तारीख में भी यह एक स्वायत्त संस्था बनी हुई है। इसी बात ने इसे मीडिया जगत में एक मुकाम दिलाया है। लकहस्ट कहते हैं कि एक स्वतंत्र प्रेस के निर्माण के लिए नेतृत्व को गहरी दूरदृष्टि और मजबूती दिखानी पड़ती है। भारत में स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए इस तरह का दृष्टिकोण दिखाने वाले इकलौते प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ही थे। दूसरा मुद्दा अर्णव गोस्वामी के टाइम्स नाऊ चैनल के प्रधान संपादक पद से अचानक इस्तीफा देने से जुड़ा है। उनके इस्तीफे के ऐलान के बाद से ही समाचार पत्र और वेबसाइट लगातार इस बारे में रिपोर्ट प्रकाशित कर रहे हैं जिनमें इस्तीफे की वजह और उनके अगले कदम के बारे में अटकलें लगाई जा रही हैं। अंग्रेजी समाचार मीडिया की पहुंच को देखते हुए अर्णव के इस्तीफे पर मच रहा हंगामा अनुपात से ज्यादा लग रहा है। ब्रॉडकास्ट ऑडियंस रिसर्च काउंसिल के गत अक्टूबर में जारी आंकड़ों के मुताबिक, अंग्रेजी समाचार चैनलों की तुलना में हिंदी चैनलों की पहुंच 16 गुने से भी अधिक है। अक्टूबर के आखिरी हफ्ते में जहां 24.12 करोड़ दर्शकों तक हिंदी समाचार की पहुंच रही, वहीं अंग्रेजी समाचार 1.47 करोड़ दर्शकों ने ही देखा था। अगर हिंदी के अग्रणी चैनल आज तक की बात करें तो अकेले इस चैनल को 12.62 करोड़ लोगों ने देखा था जबकि अंग्रेजी के नंबर वन चैनल टाइम्स नाऊ की पहुंच केवल 57 लाख लोगों तक रही। इन आंकड़ों को देखकर एक बार फिर मीडिया के भीतर 'हमारे जैसे लोग' वाला सिंड्रोम परिलक्षित होता है।

वनिता कोहली-खांडेकर

Date: 12-11-16

'समाजवादी' कदम!

उच्च मूल्य वर्ग वाली नकदी को प्रतिबंधित करने का कदम किसी भी भारतीय प्रधानमंत्री द्वारा उठाया गया सर्वाधिक समाजवादी कदम साबित हो सकता है। यहां 'समाजवादी' से तात्पर्य संपत्ति के थोक स्थानांतरण से है जो देश के अधिकांश समृद्ध लोगों के हाथ से निकलकर सीधे सरकार के हाथ में चली गई है। यह राशि अन्यथा अव्यावहारिक योजनाओं और परियोजनाओं पर खर्च की जा सकती है। नरेंद्र मोदी राजनीति के माहिर हैं और वह इस पैसे का इस्तेमाल अगले आम चुनाव में राजनीतिक बढ़त हासिल करने में कर सकते हैं। याद रहे उन्होंने पिछले आम चुनाव में हर व्यक्ति के खाते काले धन की वापसी से 15-15 लाख रुपये आने का अनुमान जताया था। यह पूरा परिदृश्य इस अहम अनुमान पर आधारित है कि 500 और 1,000 रुपये की बंद की गई मुद्रा का एक बड़ा हिस्सा नए नोट से बदला नहीं जा सकेगा क्योंकि इसका स्रोत पृष्ठ जाने और भारी भरकम जुर्माना लगने की आशंका है। ऐसे कितने नोट नदारद होंगे इसके बारे में अनुमान लगाया जा रहा है कि यह 10 फीसदी से 50 फीसदी तक राशि हो सकती है। अगर हम 20 फीसदी मानकर चलें तो भी करीब तीन लाख करोड़ रुपये की नकदी खत्म हो जाएगी जो

जीडीपी के 2 फीसदी के बराबर है। ऐसे में यह मानना सुरक्षित है कि इसमें से अधिकांश राशि अपेक्षाकृत अमीरों के पास मौजूद नकद राशि होगी। यह बहुत बड़े पैमाने पर हो रही जब्ती है। इसकी कीमत भी चुकानी पड़ रही है। क्योंकि मुद्रा अर्थव्यवस्था का ईंधन है और कुल मुद्रा आधार का पांचवां हिस्सा अगर बंद हो जाए तो इसका असर तमाम आर्थिक गतिविधियों पर पड़ना लाजिमी है। विनिर्माण में धीमापन आ सकता है क्योंकि अचल संपत्ति बाजार को झटका लगा है। उपभोक्ता वस्तुओं की मांग पर असर पड़ सकता है क्योंकि रिश्तत जैसी अतिरिक्त आय अक्सर गैजेट्स, लक्जरी और छुट्टियों आदि पर खर्च की जाती है। यह याद रखिए कि मुद्रा हमेशा काले से सफेद और सफेद से काले के बीच विचरण करती है। यह हर लेनदेन की प्रकृति पर निर्भर करता है। कई छोटे कारोबारी जो नकदी पर काम करते हैं, वे भी प्रभावित होंगे।

अचल संपत्ति के मूल्य में जो भी गिरावट आएगी उसका असर उपभोक्ताओं के रुझान पर पड़ सकता है क्योंकि परिसंपत्ति का नुकसान भारी पैमाने पर होना है। अगर आपके घर की कीमत एक सप्ताह पहले के मुकाबले कम हो गई है तो यह बात आपको थोड़ा परेशान कर सकती है। ऐसे में लोग खर्च करने में भी सावधानी बरतना शुरू कर देते हैं। इस बात को ध्यान में रखें कि एक घर या अपार्टमेंट आमतौर पर किसी व्यक्ति की सबसे बड़ी संपत्ति होता है। इस पूरी कवायद का परिणाम प्रभावित क्षेत्रों के कारोबारी नतीजों में दिख सकता है। यह जीडीपी वृद्धि दर को भी कम करेगा। इसका दूसरा पहलू यह है कि भारतीय रिजर्व बैंक उस हद तक अपनी जवाबदेहियों से मुक्त हो जाएगा जितनी नकदी मुद्रा बंद होने पर गायब होगी। इससे मिली राहत का इस्तेमाल वह अपनी बैलेंस शीट में धनराशि को केंद्रीय बजट में स्थानांतरित करके कर सकता है। इससे सरकार को वह अप्रत्याशित लाभ हासिल होगा जिसका जिक्र अर्थशास्त्री बीते कुछ दिनों से करते आ रहे हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि आरबीआई से सरकार को यह स्थानांतरण किस प्रकार होगा। लेकिन अगर सरकार इस राशि को गरीबों की कल्याण योजनाओं पर खर्च करती है तो तस्वीर एकदम स्पष्ट है: अमीरों से अवैध धन लिया गया और वैध धन गरीबों को दे दिया गया। लेनिन इसे स्वीकार करते। हमारे देश के वामपंथी भी इस बात को महसूस नहीं कर पाए हैं वरना वे नोट बंद करने का विरोध नहीं करते।

सरकार को यह अप्रत्याशित लाभ एकबारगी हुआ है और यह दोहराया नहीं जाएगा। इसलिए खर्च की जो प्रतिबद्धता है उनको भी एकबारगी निपटाया जाना चाहिए। मसलन लोगों को नकद उपहार देना। इसका एक विकल्प है पूंजीगत वस्तुओं पर व्यय करना। उदाहरण के लिए रेलवे फ्रेट कॉरिडोर या एक्सप्रेसवे जैसी बुनियादी परियोजनाओं पर खर्च करना। इससे विनिर्माण में आए धीमेपन की भरपाई की जा सकेगी। इससे रक्षा बलों के लिए जरूरी हथियार खरीदे जा सकते हैं और इसका इस्तेमाल सरकारी कर्ज के खाते में किया जा सकता है। कई समितियां कह चुकी हैं कि सरकारी कर्ज जीडीपी की तुलना में बहुत बढ़ चुका है। शायद एक बात दिमाग में रखनी होगी और वह कि मुद्रा को भलीभांति खर्च किया जाए। एकबारगी होने वाला अप्रत्याशित लाभ बरबाद नहीं होना चाहिए।

टी. एन. नाइनन



Date: 11-11-16

Marrakesh challenge

Developed countries will have to loosen their purse strings to ensure success of the Paris climate pact.

On November 4, the Paris Climate Change agreement came into force. By November 7, when the 22nd Conference of Parties (CoP) to the UN Framework Convention on Climate Change (UNFCCC) opened in Marrakesh in Morocco, more than 100 countries had ratified the agreement. The enthusiasm for the Paris pact has been unprecedented. The Marrakesh summit could set in motion processes that could make or break the Paris treaty. Countries are expected to agree to a timeframe to put in place rules pertaining to the implementation of the Paris pact. Addressing the issue of equity between nations is likely to be the greatest challenge to the Paris consensus. Paris jettisoned the notion that the historical culpability of industrial countries for the current levels of GHGs in the atmosphere enjoins on them greater responsibility for mitigating climate change. But it hasn't, and rightly so, done away with the notion of common but differentiated responsibilities. The pact recognises that though climate change should be a common concern, mitigating it requires some countries to do more than others. This means that the developed countries will have to take on financial and technology transfer commitments. They have been quite parsimonious in this respect. At the Copenhagen CoP in 2009, developed countries pledged more than 100 billion dollars in aid to developing countries by 2020. According to the UNFCCC's Standing Committee on Finance, less than a third of that amount has accrued so far. If past negotiations are anything to go by, developing countries are likely to insist — and rightly so — that the developed world fulfills its pre-Paris commitments before framing rules for the new compact. Climate financing has been a longstanding bone of contention between the developing and developed countries. In the run-up to the Paris summit, countries announced measures that will help them reduce GHG emissions. But there is also a consensus that the developing countries lack financial wherewithal, skills and institutions to attain these targets. The signatories to the Paris pact include small island states that are highly vulnerable to climate change. These countries would be justified in arguing that they have done their bit in ratifying the Paris pact. The ball is now in the court of the developed nations.



Date: 11-11-16

Making climate rules at Marrakech

The United Nations conference on climate change now under way in Marrakech, Morocco, has the ambitious task of drawing up the first steps on enhanced finance and technology transfer, which is vital to advance the Paris Agreement that entered into force on November 4. India's negotiating positions at the ongoing Conference of the Parties 22 (CoP 22) must ensure that on both these aspects, the basic principle of equity and common but differentiated responsibilities laid down by the UN Framework Convention on Climate Change are upheld. Mitigating greenhouse gas emissions is central to the effort to contain the rise of the global average temperature in the current century to well below 2° Celsius since pre-industrial levels. But that goal is

considered impossible even if sincere action is taken on all pledges made so far, necessitating a higher ambition. Moreover, the Paris Agreement does not have a carbon budget system that gives weightage to the emerging economies taking their historical handicap into account. The imperative therefore is to demand suitably high financial flows to both mitigate emissions and prepare communities to adapt to climate change. Such a mandate should be seen as an opportunity, since CoP 22 will discuss ways and means for countries to integrate their national commitments submitted for the Paris deal into actual policies and investment plans. In India's case, new developments in sectors such as construction, transport, energy production, waste and water management, as well as agriculture, can benefit from fresh funding and technology. Adopting green technologies in power generation, which has a lock-in effect lasting decades, and other areas like transport with immediate impacts such as reduced air pollution has a twin advantage. The local environment is cleaned up, improving the quality of life, and carbon emissions are cut. It is imperative therefore that the national position raises pressure on rich countries for technological and funding assistance under the Paris Agreement. In parallel, India would have to update its preparedness to meet the new regime of transparency that is to be launched under the climate pact. The preparatory decisions to write the rules and modalities for such a framework, and assist developing countries with capability building will be taken at Marrakech. There is some apprehension that the U.S. could exit the climate consensus since the President-elect, Donald Trump, has vowed to cancel the Paris Agreement. Yet, business and industry today see a strong case to take a new path, as energy costs favour renewable sources over fossil fuels. States and cities are also charting their own course to curb emissions. These are encouraging trends.
